अध्याय–9

अथ दिवादिगणः

दिवु क्रीडा-विजिगीषा- व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न कान्ति गतिषु 1

व्याख्याः दिव् (क्रीड़ा, जूआ खेलना, व्यवहार, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, नशा करना, सोना, इच्छा करना, चलना)–यह धातु सेट् है।

दिवादिभ्यः श्यन् 3.1.69

शपोपवादः।

'हलि च'–इति दीर्घः-दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवम्-षिवु तन्तुसन्ताने।।२।। नती गात्रविक्षेपे।।३।। न त्यति। ननर्त। नर्तिता।

व्याख्याः दिवादिगण की धातुओं से श्यन् प्रत्यय हो (कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे रहते)

शप इति– यह श्यन् शप् का अपवाद (बाधक) है।

इसके शकार और नकार, इत्संज्ञक हैं। शकार के इत्संज्ञक होने से इसकी सार्वधातुक संज्ञा होती है। नकार के इत् होने का फल 'नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर होना है। शेष 'य' रहता है।

दीव्यति– यह श्यन् शित् होने से 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' स्त्र से सार्वधातुक है और अपित् सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित् सूत्र से ङिद्वद् होता है। दिव् धातु से लट् में श्यन् आने पर वकारान्त उपधा इकार को हल् यकार परे होने से 'हलि च' से दीर्घ होता है।

इसी प्रकार –दीव्यतः, दीव्यन्ति आदि रूप बनते हैं।

लिट् में–

प्र० दिदेव, दिदिवतुः, दिदिवुः।

म० दिदेविथ, दिदिवथुः, दिदिव।

उ० दिदेव, दिदिविव, दिदिविम।

यह धातु सेट् हैं अतः वलादि आर्धधातुक को सर्वत्र इट् आगम हो जाता है।

तास् और स्य को इट् होकर देविता, देवितारौ, देवितारः आदि रूप लुट् में और देविष्यति, देविष्यतः, देविष्यन्ति आदि लृट् में बनते हैं।

लोट् लङ् और विधिलिङ् में श्यन् होने पर 'हलि च' से दीर्घ होता है। लोट् के सिप् में श्यन् के अकार से परे होने के कारण 'अतो हेः' से 'हि' लोप होकर दीव्य रूप बनता है। विधिलिङ् में यास् को अतो येयः से इय् आदेश होकर भ्वादि के समान रूप बनते हैं।

लुङ् में– प्र० अदेवीत्, अदेविष्टाम्, अदेविषुः म० अदेवीः, अदेविष्टम्, अदेविष्ट। उ० अदेविषम्, अदेविष्व, अदेविषम।

षिवु (सिव्– सिलाई करना) धातु के रूप भी दिवु के समान ही बनते हैं– सीब्यति। सिषेव। सेविता। सेविष्यति। सेविष्यति। सीव्यतु। असीव्यत्। सीव्येत्। सीव्यात्। असेवीत्। असेविष्यत।

सिव्– इस धातु का अर्थ यद्यपि तन्तुसन्तान–धागों का फैलाना अर्थात् कपड़ा बुनना कहा गया है, तथापि इसकी प्रसिद्धि सीने–पिरोने अर्थ में ही है। सलाईयों से बुनने के लिए भी इसी का प्रयोग होता है– विषीव्यति– (स्वेटर आदि) बुनता है।

यह धातु षोपदेश है। इसलिये षोपदेशनिमित्तक षत्व कार्य 'परिनिविभ्यः–' इत्यादि सूत्र के द्वारा होता है। यथा– 'विषीव्यति' आदि।

नत् (नाचना सेट्)– गात्रविक्षेप गात्रों का–अङ्गों का विशेष रूप से फेंकना अर्थात नाचना। इस धातु के रूप भी प्रायः पूर्व प्रक्रिया से ही बनते हैं। सार्वधातुकमपित्' सूत्र से श्यन्ङित् होता है। इसलिए इसके परे रहते लघूपध गुण नहीं होता। लट् में–नत्यति, नत्यतः, नत्यन्ति रूप बनते हैं।

लिट्– प्र. ननर्त, ननततुः,। म. ननर्तिथ, ननतथुः, ननत। उ. ननर्त, ननतिव, ननतिम। अतुस् आदि अपितु लिट् होने से 'असंयोगाद् लिट् कित्' से कित् हैं, अतः इनके परे रहते गुण नहीं होता।

यह धातु भी सेट् है, अतः वलादि आर्धधातुक को हट् होता है।

लुट् में अतएव नर्तिता, नर्तितारः आदि रूप बनते हैं।

सेसिचि कृत-चत-छत-तद-नतः 7.2.57

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा।

नर्तिष्यति-नत्र्स्वति। न त्यतु। अनत्यत्। न त्येत्। नत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्-अनत्र्स्यत।

त्रसी उद्वेगे।।४।। 'वा भ्राश-' इति श्यन् वा-त्रस्यति-त्रसति। तत्रास।

व्याख्याः कृती (काटना, तुदादि), चती (मारना, खोलना, तुदादि) छदिर् (चमकना, क्रीड़ा करना, रुधादि), तदिर् (हिंसा करना और अनादर करना, रुधादि) तथा नती (नाचना, दिवादि) धातुओं से परे सिच् भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से हो।

नर्तिष्यति–नत्स्र्यति–ऌट् में सकारादि आर्धधातुक 'स्य' प्रत्यय को यहाँ प्रकृत सूत्र से इट् विकल्प से होकर दो दो रूप बनते हैं।

लुङ में –

प्र० अनर्तीत, अनर्तिष्टाम्, अनर्तिषुः।

म० अनर्तीः, अनर्तिष्टम्, अनर्तिष्ट।

उ० अनर्तिषम्, अनर्तिष्व, अनर्तिष्म।

अनर्तिष्यत्–अनत्स्र्यत्–ऌङ् में सकारादि आर्धधातुक 'स्य' के मिलने से वैकल्पिक इट् होकर रूप बनते हैं।

त्रस– (डरना, घबराना सेट्)– इस धातु के 'वा भ्राश–भ्लाश–भ्रमु–क्रमु–क्ल–त्रसि–त्रुटि–लषः' सूत्र से वैकल्पिक श्यन होने से सार्वधातुक लकारों में दो दो रूप होते हैं।

श्यन्पक्ष में– त्रस्यति आदि और श्यन् के अभाव में शप् होकर त्रसति आदि रूप होते हैं।

तत्रास– लिट् के प्रथम के एकवचन में द्वित्व और अभ्यासकार्य आदि होकर 'तत्रास' रूप होता है।

वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् 6.4.124

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः तत्रसतुः, त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे।।५।।

व्याख्याः जॄ (जीर्ण होना, दिवादि), भ्रमु (घूमना, भ्वादि) और त्रस् (दिवादि) इन तीनों धातुओं को कित् लिट् और सेट थल् परे रहते एत्व और अभ्यास का लोप हो विकल्प से।

इन में 'जॄ' को आदेश होने तथा 'भ्रम्' और –त्रस्' को संयोग होने से 'अत एकहल्मध्ये–' सूत्र से एत्व और अभ्यास लोप प्राप्त नहीं था। अप्राप्त होने पर विकल्प से विधान करने के कारण यह अप्राप्तविभाषा हैं इसलिये इनके उक्त स्थलों में दो दो रूप बनते हैं।

सम्पूर्ण रूप–प्र० त्रेसतुः तत्रसतुः, तत्रसुः। म० त्रेसिथ–तत्र सिथ, त्रेसथुः–तत्रसथुः, त्रेस–तत्रस। उ० तत्रास–तत्रस, त्रेसिव–तत्रस, त्रेसिव–तत्र सिव, त्रेसिम–तत्रसिम।

लुट्– त्रसिता। लृट्–त्रसिष्यति। लोट्–त्रस्यतु–त्रस्तु। लङ्–अत्रस्यत्–अत्रसत्। वि० लि०'त्रेस्येत्–त्रसेत्। आ० लि०–त्रस्यात्। लुङ–अत्रासीत्–अत्रसीत्। लङ्–अत्रसिष्यत्। लुङ् में 'अतो हला देलंघोः' से वैकल्पिक वद्धि होती है।

शो– (पतला करना, कम करना)–

ओतः श्यनि 7.3.71

लोपः स्यात् श्यनि। श्यति, श्यतः, श्यन्ति। शशौ, शशतुः। शाता। शास्यति।

व्याख्याः ओकर का लोप हो श्यन् परे रहते।

शो धातु से लट् लकार में श्यन् आने पर इस सूत्र से ओकार का लोप हो जाने से धातु का केवल एक वर्ण शकार ही बच रहता है, तब प्र० श्यति, श्यतः, श्यन्ति। म० श्यसि, श्यथः, श्यथ। उ० श्यामि, श्यावः, श्यामः– रूप सिद्ध होते हैं।

लोट्, लङ् और विधि लिङ् में श्यन् होने से ओकार का लोप होता है। इनके रूप निम्नलिखित होते हैं।

लोट्– प्र० श्यतु–श्यतात्, श्याताम्, श्यन्तु। म० श्य–श्यतात्, श्यतम्, श्यत। उ० श्यानि, श्याव, यहाँ मध्यम पुरुष के एकवचन में श्यन् के अकार से परे होने के कारण 'हि' का लोप हो जाता है।

लङ्– प्र० अश्यत्, अश्यताम्, अश्यन्। म० अश्यः अश्यतम्, अश्यत। उ० अश्यम्, अश्याव, अश्याम।

विधिलिङ्– प्र० श्येत्, श्येताम्, श्युः। म० श्येः, श्येतम्, श्येत। उ० श्येम्, श्येव, श्येम।

लिट् में 'आदेच उपदेशेशिति' सूत्र से ओकार को आकार होने पर आकारान्त हो जाने से उसी के समान रूप बनते हैं।

प्र०– शशौ, शशतुः शशुः। म० शशिथ–शशाथ, शशथुः शशुः। उ० शशौ, शशिव, शशिम।

इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक लकारों में भी ओकार को आकार हो जाने से आकारान्त धातु जैसे बनते हैं। लुट्–शास्यति आ० लि० शाश्यात्।

विभाषा घ्रा-घेट्-शा-च्छा-सः 2.4.78

एभ्यः सिचो लुग् वा स्यात् परस्मेपदे परे। अशात्, अशाताम्, अशुः। इट्सकौ-अशासीत्, अशासिष्टाम्। छो छेदने।।६।। छयति। षो अन्तःकर्मणि।।७।। स्यति। ससौ। दो अवखण्डने।।८।। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने।।८।।

व्याख्याः बिभाषेति घ्रा (सूँघना, भ्वादि), धेट् (पीना, भ्वादि), शो (पतला करना, दि०), छो (काटना, दि०), षो (नाश करना दि०) इन धातुओं से पर सिच् का लोप हो विकल्प से परस्मैपद परे रहते।

अशात्–यहाँ प्रकृत सूत्र से शा धातु से पर सिच् का लोप होकर रूप बनता है।

अशुः– झि को 'आतः' सूत्र से जुस् आदेश होता है और आकार का 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होकर रूप सिद्ध होता है।

सिच् लोप के अभावपक्ष में 'यमरमनमातां सक् च' सूत्र से इट् और सक् होकर अशासीत्, अशासिष्टाम्, अशासिषुः आदि रूप बनते हें।

६ छो (काटना) ७ सो (नाश करना) ८ दो (काटना)

इन धातुओं के रूप भी 'शो' के समान ही बनते हैं। इनके लोट् के हि का लोप होने पर छय, स्य और द्य रूप बनते हैं। 'षा' का आशीर्लिङ् से एत्व होकर 'सेयात्' और दो को घुसंज्ञक होने से पूर्ववत् आशीर्लिङ् में 'देयात्' तथा लुङ् में 'गातिस्थाधु–' इत्यादि सूत्र से सिच का लोप होकर 'अदात्' आदि रूप बनते हैं। इनके रूपों में केवल यही अन्तर पड़ता है।

उपसर्ग के योग में–

अवस्यति–निश्चय करता है। व्यवस्यति–उद्योग करता है।

ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टिविचति-वश्चति-पच्छति-भंजतीनां ङिति च 6.1. 16

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च।

विध्यति। विव्याध, विविधतुः, विविधुः। विव्यधिथ, विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। पुष पुष्टौ।।१०।। पुष्यति। पुपोष, पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। 'पुषादि'-इत्यङ्-अपुषत्। शुष शोषणे।।११।। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने।।१२।। नश्यति। ननाश, नेशतुः।

व्याख्याः ग्रह् (करना, क्र्यादि), ज्या (वद्ध होना, क्र्यादि), वे् (बुनना, भ्वादि), व्यध् (वेधना, दिवादि), वश् (इच्छा करना, अदादि), व्यच् (ठगना, तुदादि), व्रश्च् (काटना, तुदादि), प्रच्छ् (पूछना, तुदादि), और भ्रस्ज् (भूनना, तुदादि)–इन धातुओं को सम्प्रसारण हो कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

श्यन्' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है। अतः इसके परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है।

विध्यति–व्यध् धातु के यकार को सम्प्रसारण होकर लट् में 'विध्यति' आदि रूप बनते हैं।

लिट् में पित् प्रत्यय णल् थल् और णल् में 'लिट्यभ्यासस्यो भयेषाम्' सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर विव्याध, बिध्यधिथ–विव्यद्ध, विव्याध–विव्यध रूप बनते हैं। 'अतुस्' आदि कित् प्रत्ययों में 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्य बलवत्' परिभाषा के बल से द्वित्व से पहले सम्प्रसारण होने पर द्वित्व होकर विविधतुः आदि रूप बनते हैं। थल् में भारद्वाज नियम से वैकलिपक इट् होता है। अभावपक्ष में थ को 'झषस्तथोर्घोधः' से धकार और धातु के घकार को जश्त्व दकार होता है।

इसी प्रकार लुट् में तास् के तकार को धकार होकर व्यद्धा आदि रूप बनते हैं।

ल्रट् में 'स्य' आने पर धकार को चर् तकार होकर व्यत्स्यति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लोट्, लङ् और विधिलिङ् में सम्प्रसारण होने से–विध्यतु, अविध्यत्, विध्येत् आदि रूप बनते हैं।

विध्यात्-आशीर्लिङ् के यासुट् के 'किद् आशिषि' सूत्र से कित् होने के कारण वहाँ भी प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है।

अव्यात्सीत्-लुङ् में प्रथम के एकवचन में हलन्तलक्षणा वद्धि और धकार को चर्त्व तकार होकर रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'तम्' ओर 'त' में भी सिच् का लोप होकर कार्य होते हैं। शेष प्रत्ययों में सिच् रहता है।

लुङ् के सारे रूप–

प्र० अव्यात्सीत्, अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः।

म० अव्यात्सीः, अव्याद्धम्, अव्याद्ध।

उ० अव्यात्सम्, अव्यात्स्व, अव्यात्स्म।

---

१. 'राघव स्य शरैर्घोरैर्धोरं रावणमाहवे। अत्र क्रि पदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः।' इस कूट के पद्य में 'स्य' क्रियापद है, जो प्रकृत 'षो अनतःकर्मणि–नाश करना, धातु के लोट् म–पु. ए. व. रूप है। 'राघव' सम्बोधन पद है। 'राघवस्य' यह षष्ट्यन्त पद मालूम पड़ता है, जिस से क्रिया पद का अभाव यहाँ खटकने लगता है। इस पद्य का अर्थ है–'हे राम, इस भयंकर रावण को तीक्ष्ण वाणों से मार डालो। इस पद्य में क्रिया पद गुप्त–छिपा हुआ–है, जो उसे जानता है, वह पण्डित है।'

पुष्यति– श्यन् के ङिद्वत् होने से उसके परे रहते लघ्वुपधगुण का निषेध हो गया।

पुपोषिथ– थल् में क्रादि नियम से नित्य इट् हुआ, क्योंकि न तो यह अजन्त है और न अकारबान्, अतः भारद्वाज नियम का विषय यह धातु नहीं है। लुट् में ष्टुत्व होकर पोष्टा, पोष्टारौ, पोष्टारः आदि रूप बनते हैं।

लट् में ष्टुत्व होकर पोक्ष्यति आदि रूप बनते हैं।

लट् में धातु के षकार को 'षढोः कः सि' से ककार होने पर 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार होता है, तब क ष के संयोग होने से 'क्ष' होकर पोक्ष्यति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लुङ् में 'पुषादि–द्युतादि–लदितः परस्मैपदेषु' से च्लि को अङ् होकर अपुषत् आदि रूप बनते हैं।

शुष् (सूखना)–धातु भी अनिट् है तथा पुषादि गण की है। अतः इसके सारे रूप 'पुष' के समान सिद्ध होंगे।

नश् (नाश होना)–नश् धातु के लिट् के किद् वचनों में तथा सेट् पक्ष में 'अत एक–हल्मध्ये–' और 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होता है। इसलिये अतुस् में नेशतुः और उस् में नेशुः रूप बनता है।

यह धातु है तो अनिट्, परन्तु 'रधादिभ्यः' सूत्र इसे 'वेट्' कर देता है।

रधादिभ्यश्च 7.2.45

रध, नश, तप, दृप्, द्रुह, मुह, स्नुह, स्निुह-एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ।

व्याख्याः रधादिभ्य इति–रध् आदि आठ धातुओं से पर आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से हो।

नेशिथ–थल् को इट् होने पर 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप बनता है।

मस्जि-नशोर्झलि 7.1.60

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव-नेश्व नेशिम-नेश्म। नशिता-नंष्ठा। नशिष्यति-नङ्क्ष्यति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात् अनशत्।

षूङ् प्राणिप्रसवे।।१३।। सूयते। क्रादिनियमाद् इट्-सुषुविषे, सुषुविवहे, सुषुविमहे। सोता, सविता।

दूङ् परितापे।।१४।। दूयते। दीङ्क्षये।।१५।। दीयते।

व्याख्याः मस्जि इति–मस्ज् और नश् धातु को झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम हो।

ननंष्ठ–थल् में इट् के अभाव पक्ष में झलादि प्रत्यय मिल जाता है। अतः प्रकृत सूत्र से नुम् होकर उसके नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार तथा 'व्रश्च–' से शकार को षकार और थकार को ष्टुत्व ठकार होने पर रूप बनता है।

सेट् थल् परे रहते विधान होने से एत्व और अभ्यासलोप यहाँ नहीं हुए।

नेशिव–नेश्व, नेशिम–नेश्म–'व' और 'म' में भी विकल्प से इट् होने के कारण दो दो रूप बनते हैं। इट् और इडभाव दोनों पक्षों में एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप बनते हैं।

नंष्टा– लुट् में झलादि प्रत्यय तास् परे नुम् होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। पक्ष में –नशिता–इट् होकर रूप बनता है।

नंक्ष्यति–ऌट् में इडभाव पक्ष में शकार को 'व्रश्चभ्रस्ज–' सूत्र से मूर्धन्य षकार और उसको 'षढोः कः सि' से ककार तथा क ष संयोग से 'क्ष' होता है। तब नुम् और उसको यथाप्राप्त अनुस्वार होकर रूप बनता है।

अनशत्–पुषादि हाने से लुङ् में च्लि को अङ् होकर रूप बनता है।

सू (पैदा होना) प्राणियों के जन्म लेने अर्थ में ही इस धातु का प्रयोग होता है।

क्रादि नियमाद् इति– इस धातु के लिट् में क्रादिनियम से इट् होता है। 'सुषुविषे' सुषुविवहे, सुषुविमहे इन में क्राादि नियम से नित्य इट् हुआ है। अन्य स्थलों में 'स्वरति–सूतिसूयतिधूञूदितोवा' इस सूत्र में 'सू' धातु का ग्रहण–होने से वैकल्पिक इट् होता है।

लृट्–सविष्यते, सोष्यते। लोट्–सूयताम्। लङ में–असूयत। विधिलिङ् में–सूयेत। आ० लि०–सविषीष्ट, सोपीष्ट। लुङ्–असविष्ट, असोष्ट। लृङ् असविष्यत, असोष्यत।

१४ दू (दुःखी होना)– इस धातु के रूप भी 'सूङ' के समान ही बनेंगे। केवल इट् का विकल्प नहीं होता। दीघ्र ऊकान्रान्त होने से यह धातु सेट् है।

लिट् –

प्र० दुदुवे, दुदुवाते, दुदुविरे।

म० दुदुविषे, दुदुवाथे, दुदुविध्वे।

उ० दुदुवे, दुदुविवहे, दुदुविमहे।

लृट्– दविता। लृट्–दविष्यते। लोट्–दूयताम्। लङ्–अदूयत। वि० लि०– दूयेत। आ लि०–दविषीष्ट। लुङ्–अदविष्ट। लृङ् अदविष्यत।

दी (नाश होना) अनिट्।

दीङो युट् अचि क्ङिति 6.4.63.

दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट्।

(वा) वुग्युटौ-उवङयणोः सिद्धौ वक्तव्यौ। दिदीये।

व्याख्याः दीङ् इति–दीङ् धातु से पर अजादि कित् और ङित् आर्धधातुक को 'युट्' आगम हो।

वुग्युटाविति–उवङ् ओर यण् के विषय में वुक् और युट् सिद्ध हों।

दिदीये– दी धातु को लिट के एकवचन एश् में द्वित्व होने के अनन्तर अजादि प्रत्यय परे होने से युट् आगम होता है। उट् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। तब 'दिदीय्ए' इस दशा में 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र से युट् के असिद्ध होने से 'एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य' इससे यण् प्राप्त होता है। उसका प्रकृत वार्तिक से युट् को सिद्ध विधान करने से वारण हो जाता है।

इसी पकार

प्र० दिदीयाते, दिदीयितरे।

म० दिदीयिषे,दिदीयाथे, दिदीयिध्वे।

उ० दिदीये, दिदीयिवहे, दिदीयिमहे।

ये रूप बनते है।

मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च 6.1.50

एषामात्वं स्यात् ल्यपि, चाद् अशित्येजिनिमित्ते। दाता दास्यति।

व्याख्याः मी् (हिंसा करना, क्रयादि), मि (फेंकना, स्वादि)– इन दो धातुओं को आकार (अन्तादेश) हो, ल्यप् तथा गुण वद्धि निमित्त शिद्भिन्न प्रत्यय परे रहसे।

चाद्–इति–चकार (भी) कहने के कारण शित्–भिन्न एज़्निमित्त प्रत्ययों का भी निमित्त कोटि में यहाँ ग्रहण होता है।

तास्, स्य आदि प्रत्यय शिद्भिन्न हैं और गुण वद्धि के हेतु भी हैं। अतः इनके परे रहते उपर्युक्त धातुओं को आकार आदेश होगा।

'दी' को लुट् में आकार होने से दाता आदि और लृट में–दास्यते आदि रूप बनेंगे। लोट्–दीयताम्। लङ् –अदीयत। विधिलिङ्–दीयेत। आशीर्लिङ्–दासीष्ट।

(वा) स्थाध्वोरित्वे दीङः प्रतिषेधः। अदास्त

व्याख्याः (वा) स्थाध्वोरिति–घुसंज्ञक धातुओं को लुङ् में 'स्थाध्वोरिच्च' सूत्र से जो इकार आदेश प्राप्त है, उसमें 'दीङ्' का प्रतिषेध हो, अर्थात् दीङ् को न हो।

दीङ धातु दारूप होने से घुसंज्ञक है, अतः इत्व प्राप्त था, उसका निषेध इस वार्तिक से होता है। अतः अदास्त, अदासाताम्, अदासत आदि रूप बनते हैं।

डीङ् विहायसा गतौ।।१६।। डीयते। डिड्ये। डयिता।

व्याख्याः १६ डीङ् (उड़ना, सेट्) इस धातु के रूप दीङ् से कुछ भिन्न होंगे, सार्वधातुक लकारों में अवश्य समान होंगे। लुट्–डयिता। 'ऊद्ऋदन्तैः–' इत्यादि सेट्–कारिका में पाठ होने से यह धातु सेट् है। ऌट्–डयिष्यते। लोट्–डीयताम्। लङ्–अडीयत् वि० लि०–डीयेत। आ० लि०–डयिषीष्ट। लुङ्–अड़यिष्ट। ऌङ्–अडयिष्यत।

इसका प्रयोग प्रायः उद्–उपसर्गपूर्वक होता है।

पीङ् पाने ।।१७।।

पीयते। पेता, अपेष्ट।

माङ् माने।।१८।। मायते। ममे।

व्याख्याः माङ् (मापना)– मायते। ममे। माता। मास्यते। मायताम्। अमायंत। मायेत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत।

जनी प्रादुर्भावे।।१६।।

व्याख्याः जन् (उत्पन्न होना)सेट्। आत्मनेपदी।

ज्ञा-जनोर्जा 7.2.79

अनयोर्जादेशः स्यात् शिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते।

व्याख्याः (जानना क्र्यादि) और जन् धातु को 'जा' आदेश हो शित् प्रत्यय परे रहते।

श्यन् शित् है, अतः जन् धातु को सार्वधातुक लकारों में 'जा' आदेश हो जाता है। लट्–जायते। लोट्–जायताम्। लङ्–अजायत्। बि० लि०–जायेत।

जज्ञे–लिट् में 'जन' को द्वित्व होने पर 'जन् जन् ए' इस दशा में 'गमहनजनखन–' इत्यादि सूत्र से उपघालोप हो जाता है। तब 'ज जन् ए' इस स्थिति में नकार को श्चुत्व ञकार होकर 'जज्ञे' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे के रूप भी बनते हैं।

प्र० जज्ञाते, जज्ञिरे।

म० जज्ञिषे, जज्ञाथे, जज्ञिध्वे।

उ० जज्ञे, जज्ञिवहे, जज्ञिमहे।

दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योन्यतरस्याम् 3.1.61

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यात्, एकवचने तशब्दे परे।

व्याख्याः दीपजनेति–दीप् (चमकना, दिवादि), जन् (उत्पन्न होना), बुध् (जानना), पूरि (भरना) ताय् (फैलना, पालना) प्याय (फूलना)– इन धातुओं से पर च्लि के स्थान में विकल्प से चिण् आदेश हो, एकवचन 'त' शब्द परे रहते।

चिणो लुक् 6.4.104

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात्।

व्याख्याः चिण् से पर 'त' शब्द का लुक् (लोप) हो।

अजनि–'अजन्इत्' इस दशा में इससे 'त' का लोप होकर रूप बनता है।

जनि-वध्योश्च 7.3.35

अनयोरुपधाया वद्धिर्न स्यात चिणि णिति कृति च। अजनि, अजनिष्ट।

दीपा दीप्तौ।।२०।। दीयते। दिदीपे। अदीपि, अदीपिष्ट।

पद गतौ।।२१।। पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्सीष्ट।

व्याख्या: जन् और वध् धातुओं की उपधा को वद्धि न हो चिण् तथा ाित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते।

चिण् के णित् होने से 'अत उपधायाः' से 'अजनि' में वद्धि प्राप्त थी, उसका इसमें निषेध हो गया।

चिणभव पक्ष में सिच् होता है। सिच् को इट् होकर अजनिष्ट रूप बनता है। आगे–अजनिषाताम् आदि रूप बनते हैं।

दीप् (चमकना) धातु के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। लुङ् के प्रथम के एकवचन में चिण् विकल्प से दो रूप बनते हैं–अदीपि, अदीपिष्ट।

पद (जाना) यह धातु अनिट् हैं पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्स्यते। पद्यताम्। अपद्यत। पद्येत। पत्सीष्ट।

चिण् ते पदः 3.1.60

पदेश्च्लेश्चिण स्यात् त शब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत।

व्याख्या: पद् धातु से पर च्लि को चिण् हो त शब्द परे रहते।

अपादि– 'चिल' को चिण् आदेश होने पर उपधावद्धि और प्रकृत सूत्र से तकार का लोप होकर रूप बनता है।

अपत्साताम्– आताम् में च्लि को सिच् होने से 'अपत्साताम्' और झ में अपत्सत रूप सिद्ध होता है। शेष रूप–

म० अपत्थाः, अपत्साथाम्, अपद्ध्वम्। उ० अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि।

'थास्' और 'ध्वम्' में 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप हो जाता है।

उपसर्गों के योग में–

प्रपद्यते–ग्रहण करता है।	निष्पद्यते –होता है।
सम्पद्यते–सम्पन्न होता है।	विपद्यते–मरता है।
आपद्यते–आपत्ति होती है।	उत्पद्यते–पैदा होता है।
उपउद्यते –उपपन्न होता है।	

विद सत्तायाम्।।२२।। विद्यते। वेत्ता। अवित्त।

व्याख्या: विद्यते। विविदे। वेत्ता। विद्यताम्। अविद्यत। विद्येत। वित्सीष्ट। अवित्त।

यह धातु अनिट हैं, आशीर्लिङ् में 'लिङ्सिचावत्मनेपदेषु' सूत्र से सीयुट् को कित्त्व होने से गुण का निषेध हो जाता है।

बुध अवगमने।।२३।। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सोष्ट। अबोधि, अबुद्ध, अभुत्साताम्।

व्याख्या: यह धातु अनिट् है।

सकारादि अर्थात् स्य, सीयुट् और सिच् के सकार परे रहते 'एकाचो बशो ...' सूत्र से बकार की भष्भाव से भकार हो जाता है लुङ् के एकवचन में 'दीपजनबुध ...' इस सूत्र से च्लि को वैकल्पिक चिण् होने से दो रूप बनते हैं।

प्र० अबोधि–अबुद्ध, अभुत्साताम्, अभुत्सत।

म० अबुद्धाः, अभुत्साथाम्, अभुद्धम्।

उ० अबोधिषि, अबुध्व, अबुध्म।

युध संप्रहारे।।२४।। युध्यते। युयुधे। योद्धा। आयुद्ध।

व्याख्याः युद्ध करना। अनिट् आत्मनेपदी।

युध्यते–लट् के त में श्यन् और 'त्' की टि को एकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

युयुधे–लिट् को त, त को एश आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

लिट् के शेष रूप–

प्र० युयुधाते, युयुधिरे।

म० युयुधिषे, युयुधाथे, युयुधिध्वे।

उ० युयुधे, युयुधिवहे, युयुधिमहे।

यहाँ वलादि आर्धधातुक में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

योद्धा– लुट् में त को डा आदेश, तास् को टि 'आस्' का लोप, लधूपध गुण, तकार को 'झषस्तथोर्धोधः' से धकार को जश् दकार होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणन होने से 'युध्' धातु अनिट् है। अतएव तास् में इट् नहीं हुआ।

लुट् के शेष रूप–

प्र० योद्धा यौद्धारौ, योद्धारः।

म० योद्धासे, योद्धासाथे, योद्धध्वे।

उ० योद्धाहे, योद्धास्वहे, योद्धास्महे।

ऌट्– योधिष्यते। लोट्–अयुध्यताम्। लङ् अयुध्यत। विधिलिङ्–युध्येत। आशीर्लिङ्–युत्सीष्ट।

ऌङ् में–प्र० अयोत्स्यत, अयोत्स्येताम, अयोत्स्यन्त–आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सज विसर्गे।।२५।। सज्यते। ससजे। ससजिषे।

व्याख्याः (छोड़ना–अनिट् आत्मनेपदी)

लट्–स ज्यते। लिट् प्र० ससजे, ससजाते, ससजिरे। ससजिषे।

लिट् के थास् को 'से' आदेश और वलादि आर्धधातुक होने से उसे क्रादिनियम से नित्य इट् होकर उक्त रूप की सिद्धि हुई।

लिट् के शेष रूप–म० ससजाथे, ससजिध्वे। ससजे, ससजिवहे, ससजिमहे।

सजि-दशोर्झ ल्यम्-अकिति 6.1.58

अनयोः 'अम्' आगमः स्याद् झलादौ-अकिति। स्रष्टा। स्रक्षयति। सक्षीष्ट। असक्षाताम्।

व्याख्याः सज् औद दश् धातुओं को 'अम्' आगम हो झलादि किद्भिन्न प्रत्यय परे रहते।

स्रष्टा-लुट् के त में तास् ओर त के डा आदेश होने पर प्रकृत सूत्र से 'आम्' आगम होगा। तब 'स अ ज् ता' इस दशा में ऋकार को यण् रकार आदेश तथा जकार को 'व्रश्च–भ्रस्ज–सज–' इत्यादि सूत्र से षकार और तास् के तकर को ष्टुत्व टकार होकर उक्त रूप बन गया। ,

सज् धातु का भी अ नुदात्तोपदेश धातुओं में परिगण होने से अनिट्त्व सिद्ध है। अतः इट् न होने से तास् झलादि प्रत्यय है तथा कित् न होने से किद्भिन्न भी है।

शेष रूप –

प्र० स्रष्टारौ, स्रष्टारः।

म० स्रष्टासे, स्रष्टासाथे, स्रष्टाध्वे।

उ० स्रष्टाहे, स्रष्टास्वहे, स्रष्टास्महे।

स्रक्ष्यते– लृट् में स्य, झलादि और किद्भिन्न प्रत्यय है। अतः 'अम्' आगम होता है। 'अम्' के अकार परे रहते ऋकार को यण् रकार आदेश , जकार तथा 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार, क् ष् के संयोग से 'क्ष' सिद्ध होकर रूप बना।

लोट्–सज्यताम्। लङ्–असज्यत। विधिलिङ्–सज्येत।

सक्षीष्ट–आशीर्लिङ् में सीयुट्, सुट्, जकार को षकार, उसको 'षढोः कः सि' से ककार , सीयुट् दोनों के सकार को मूर्धन्य षकार, क ष के संयोग से क्ष तथा 'त' के ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ 'अम्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि 'सीयुट्' लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११।' सूत्र से कित है।

आशीर्लिङ् के शेष रूप ...

प्र० सक्षीयास्ताम्, सक्षीरन्।

म० सक्षीष्ठाः, सक्षीयास्थाम, सक्षीध्वम्।

उ० सक्षीय, सक्षीवहि, सक्षीमहि।

असष्ट–लुङ् के त में सिच् और उसका 'झलो झलि' से लोप होने पर जकार को षकार तथा तकार को ष्टुत्व तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ भी पूर्वोक्त 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु १।२।२१।' सूत्र से सिच् के कित् हो जाने से प्रकृते सूत्र से 'अम्' आगम नहीं होता।

असक्षाताम्–आताम् में सिच्, जकार को षकार और षकार को 'षढोः कः सि' से ककार होने पर सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष के संयोग से क्ष होकर रूप बना।

लुङ् के शेष रूप–

प्र० असक्षत।

म० असष्ठाः, असक्षथाम्, असढ्वम।

उ० असक्षि, असक्ष्वहि, असक्ष्महि।

लृङ् में–

प्र० अस्रक्ष्यत, अस्रक्ष्येताम्, अस्रक्ष्यन्त।

म० अस्रक्ष्यथाः, अस्रक्ष्येथाम्, अस्रक्ष्वध्वम्।

उ० अस्रक्ष्ये, अस्रक्ष्यावहि, अस्रयामहि।

मष तितिक्षायाम् 26

मष्यति, मष्यते। ममर्ष, ममषिंथ, ममषिषे। मर्षितासि, मर्षितासे। मर्षिष्यति। मर्षिष्यति, मर्षिष्यते।

व्याख्याः मष् (सहना सेट्)– यह धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

मष्यति– लट् तिप् और श्यन् होकर रूप सिद्ध हुआ।

मष्यते–लट्, त, श्यन् और 'त' की टि को एकार होकर रूप बना।

ममर्ष–लिट्, तिप, णल, द्वित्व अभ्यासकार्य तथा अभ्यास के उत्तरखण्ड में लधूपध गुण हुआ।

अतुस्–ममषतुः, अस्–ममषुः–ये रूप बनते हैं। इनमें कित् होने के कारण गुण नहीं होता।

मभर्षिथ–थल् में पित् होने से गुण होता है और क्राादिनियम से नित्य इट्

शेष रूप–

म० ममषथुः, ममष।

उ० ममर्ष, ममषिव, ममषिम ।

व और म के कित् होने से गुण नहीं हुआ।

ममषिषे–लिट् आत्मनेपद के मध्यम पुरुष के एकवचन थास में 'से' आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य और क्राादिनियम से नित्य इट् होकर रूप सिद्ध हुआ।

लिट् आत्मनेपद के रूप –

प्र०ममषे, ममषाते, ममषिरे।

म० मभषिषे, ममषाथे, ममषिध्वे।

उ० ममषे, ममषिवहे, ममषिमहे।

मर्षितासि–'लुट् के मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप है। सिप, तास् सकार का लोप, इट् और गुण कार्य होते हैं।

मर्षितासे–यह लुट् के मध्यम पुरुष के एकवचन का आत्मनेपद का रूप है। थास् को 'से' आदेश हुआ, शेष कार्य परस्मैपद के समान ही होते हैं।

लोट्– मष्यतु, मष्यताम्। लङ्–अमष्यत्, अमष्यत। विधिलिङ– मष्येत्, मष्येत। आशीर्लिङ्–मष्यात्, मषिषीष्ट। लुङ्–अमर्षीत्, अमर्षिष्ट। ऌङ्–अमर्षिष्यत् अमर्षिष्यत।

'वि' उपसर्ग के योग में इसका अथ 'विचार करना' हो जाता है–विमष्यति विचार करता है।

णह बन्धने।।२७।। नह्यति, नह्यते। ननाह, नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्। अनद्ध।

व्याख्याः नह् (बांधना –अनिट्)–यह धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

नह्यति, नह्यते–परस्मैपद और आत्मनेपद के लट के प्रथम पुरुष के एकवचन के रूप हैं।

अतुस्–नेहतुः, उस्–नेहुः इनमें अतुस् और उस् के कित् लिट् होने स उनके परे रहते 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' से एत्व और अभ्यास का लोप होता है।

नेहिथ–इट् पक्ष में 'न नह् ह थ' इस दशा में 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ननद्ध– 'नह् थ' इस दशा में तास् में नित्य अनिट् और आकारवान् होने से थल् को भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट् होने पर इडभाव पक्ष में द्वित्व और अभ्यासकार्य करने पर 'नहो घः' सूत्र से हकार को धकार 'झषस्त–थोर्धोधः' से थकार को धकार तथा पूर्वधकार को जश् दकार होकर रूप बना।

शेष रूप–

म० नेहथुः, नेह।

उ० ननाह–ननह, नेहिव, नेहिम।

नेहे-लिट् आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन। 'न नह् ए' इस दशा में एश् के कित् लिट् होने से उसके परे रहते एत्व और अभ्यास लोप होकर रूप बना।

शेष रूप–

प्र० नेहाते, नेहिरे।

म० नेहिषे, नेहाथे, नेहिध्वे।

उ० नेहे, नेहिवहे, नेहिमहे।

कित् लिट् होने से यहाँ सर्वत्र एत्व और अभ्यासलोप हुआ। वलादि प्रत्ययों में क्राादिनियम से नित्य इट् होता है।

नद्धा–'नह ता' इस दशा में 'नहो धः' से हकार को धकार तथा तास् के तकार को 'झषस्तथोः–' से धकार ओर तब पूर्व धकार को जश् दकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

लुट् के रूप –

प्र० नद्धा, नद्धारौ, नद्धारः।

नद्धासि, नद्धास्थः, नद्धरास्थ।

नद्धास्मि, नद्धास्वः, नद्धास्मः।

आ० –

प्र० नद्धा, नद्धारौ, नद्धारः।

म० नद्धासे, नद्धासाथे, नद्धाध्वे।

उ० नद्धापहे, नद्धास्वहे, नद्धास्महे।

नत्स्यति–लृट् में 'नह् स्यति' इस दशा में 'नहो धः' से हकार को धकार और धकार को चर्त्व तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

लोट्–नह्यतु, नह्यताम्। लङ् अनह्यत्, अनह्यत। विधिलिङ्–नह्येत्, नह्येत। आशीर्लिङ्–नह्यात्, नत्सीष्ट।

अनात्सीत्–लुङ् में 'अ नह् स् त' इस दशा में अनिट् होने से इट् तो हुआ नहीं, तब ईट् और हकार को धकार और उसको चर् तकार तथा हलन्तलक्षणा वद्धि होकर रूप बना।

शेष रूप –

प्र० अनाद्धाम्, अनात्सुः।

म० अनात्सीः, अनाद्धम्, अनाद्ध।

उ० अनात्सम्, अनात्स्व, अनात्स्म।

यहाँ 'ताम्' में झल् पर होने से सिच् का लोप हो जाता है, तब हकार को धकार भी हो जाता है। इसी प्रकार 'तम्' और 'त' में भी।

अनद्ध–लुङ् आत्मनेपद में 'अनह् त' इस दशा में सिच् होने पर उसका 'झलो झलि' से लोप हो जाता है, तब हकार को धकार तथा तकार को भी धकार और पूर्व धकार को जश् दकार होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

प्र० अनत्साताम्, अनत्सत।

म० अनद्धाः, अनत्साथाम्, अनद्धम्

उ० अनत्सि, अनत्स्वहि, अनत्स्महि।

लृङ्–अनत्स्यत्, अनत्स्यत।

सम उपसर्ग के योग में इसका अर्थ 'तैयार होना' होता है–सन्नह्यति–तैयार होता है।

(इति दिवादयः)